



भारतीय परम्परा में शिक्षा व्यवस्था – पं. विद्यानिवास मिश्र की दृष्टि में

डॉ. संजय कुमार तिवारी

सहायक प्रोफेसर

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य पंडित विद्यानिवास मिश्र की पुस्तक 'अध्यापन : भारतीय दृष्टि' के आलोक में भारतीय परम्परा में शिक्षा, शिक्षण व्यवस्था व प्रबंधन की स्थिति का अवलोकन एवं अनुशीलन की कोशिश अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के सन्दर्भ में की गई है तथा तत्संबंधित समीचीन दृष्टि क्या होनी चाहिए? इस प्रश्न पर भी विचार-विमर्श किया गया है ।

प्राचीन भारतीय परम्परा में अध्यापन व्यवस्था अत्यन्त समुन्नत रही है । उस कालावधि में अध्यापक का कार्य सूचना और ज्ञान में स्पष्ट भेद करते हुए विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करना होता था और ज्ञान का लाभ समाज को भी यथोचित मात्रा में मिल सके यह निर्धारित करना भी उनका उद्देश्य था । इस हेतु अध्यापक स्वयं को श्रवण, मनन, निदिध्यासन, सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र, आष्टांगिक मार्ग, अष्टांग योग तथा साधन चतुष्टय आदि के द्वारा आलोकित करता था एवं तदनु रूप विद्यार्थियों सहित सम्पूर्ण समाज को भी प्रकाशित करता था । तत्कालीन समाज में सम्पूर्ण शिक्षण व्यवस्था का उत्तरदायित्व सामूहिक था, जिसका पूर्ण निर्वहन समाज करता था । उक्तकालीन परिस्थिति में अध्यापक के समस्त मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति करना समाज की जिम्मेदारी थी, फलस्वरूप अध्यापक पूर्णकालिक रूप में अपने सम्पूर्ण दायित्वों का निर्वहन न केवल विद्यार्थियों के लिए बल्कि आवश्यकतानुसार समाज के लिए भी करने हेतु सदैव तत्पर और तैयार रहता था, वह भी अपनी आवश्यकताओं की चिंता किए बिना और ऐसी स्थिति में अध्यापक का सम्मान बहुत ऊँचा एवं आदर्शपरक था ।

अध्यापक के आदर्शपरक सम्मान की स्थिति संतकबीर के भी इस दोहे में स्पष्टतः परिलक्षित होती है –

गुरु गोविन्द दोरु खडे काके लागूं पांय ।

बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय ॥

किंतु 14 वीं शताब्दी के पश्चात उक्त स्थिति में आंशिक रूप से तथा 16 वीं शताब्दी के पश्चात अंग्रेजों के शासन काल में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ । जब अंग्रेजी शासन व्यवस्था ने अध्यापकों के लिए एक सुनिश्चित नियम व परिनियम का विनिर्माण किया और अध्यापकों को उनके कर्तव्यों के बदले एक निश्चित पारिश्रमिक का भुगतान किया जाने लगा, तब अध्यापकों सहित विद्यार्थियों के मूलभूत आवश्यकताओं एवं संसाधनों की आपूर्ति करना समाज का सामूहिक

उत्तरदायित्व न होकर तत्कालीन सरकार का दायित्व हो गया । ऐसी स्थिति में अध्यापक को पगार अथवा वेतन मिलने लगा जिसके बदले में अध्यापक, जो पहले पूर्णकालिक रूप में विद्यार्थियों तथा यथासंभव समाज के लिए भी उपलब्ध रहता था, अपने को सिकोड़ लिया तथा अपने को पूर्वाहन से अपराहन कार्यालयी समयावधि में सिमट लिया । उक्त परिस्थिति में अध्यापक का कार्य सीमित होकर कार्यालयी समय में नौकरी करना, कर्तव्यों के निर्वहन में सिर्फ खाना-पूर्ति करना और वेतन लेना भर रह गया । जिससे शिक्षा के गुणात्मक स्तर में अत्याधिक गिरावट आ गई जिसने व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और मानवता के विकास को बाधित किया और जो आज भी किसी न किसी रूप में बना हुआ है, जिसे किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता ।

अतः उक्त के आलोक में यह विमर्श करना अत्यंत उपर्युक्त एवं समीचीन है कि वर्तमान में पूर्वस्थापित शैक्षिक व्यवस्था कि मूल्यात्मक एवं व्यावहारिक स्थिति को कैसे पुनःस्थापित किया जाए? शिक्षा व्यवस्था को गुणात्मक दृष्टि से कैसे पटरी पर लाया जाए? और किस प्रकार की अध्यापन प्रणाली को प्रतिदर्श बनाया जाए? जो आज के वैश्विक धरातल पर आधुनिक विकसित भारत का निर्माण कर सकें साथ ही दुनियां एवं मानवता के लिए श्रेयस्कर हो सकें । इन लक्ष्यों को प्राप्त करने का समीचीन प्रतिदर्श एवं विकल्प हमें पंडित विद्यानिवास मिश्र जी की पुस्तक 'अध्यापन : भारतीय दृष्टि' में स्पष्टतः परिलक्षित होता है ।

पंडित विद्यानिवास मिश्र जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, उनका चिंतन और लेखन संसार, वृहत से वृहतर रहा है। उनके चिंतन का बहुआयामी विस्तार कई विधाओं में प्रस्फुटित हुआ है—जैसे निबंध, यात्रा-वृत्तांत, साहित्यालोचन, संस्कृति संवाद, भाषा चिंतन, व्याख्या, साक्षात्कार, संपादन एवं शिक्षा चिंतन आदि। पंडितजी का पांडित्यपूर्ण विराट ज्ञान-सम्पदा का प्रखर प्रवाह निर्बाध रूप से जीवन के अंतिम क्षणों तक प्रवाहित होता रहा है। अनेक अलंकरणों से अलंकृत पंडितजी ने कला, संस्कृति व शिक्षा से संबंधित संस्थानों में अपनी सक्रिय भागीदारी के साथ ही अनेक उच्च पदों को सुशोभित भी किया। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनका जीवन अध्येताओं के लिए एक संदेश है।

पंडितजी की शिक्षा संबंधी चिंताएं एवं चिंतन उनकी पुस्तक में दृष्टिगोचर होती है। वे लिखते हैं कि भारतीय अध्यापक के बारे में कुछ भ्रांत धारणाएँ हैं। यथा – शिक्षा देने का अधिकार भारत में जाति विशेष को ही प्राप्त होना, शिक्षा का लाभ बहुत कम लोगों को प्राप्त होना, शिक्षा में प्रयोग के लिए कोई स्थान नहीं होना, आदि। इन भ्रांत धारणाओं को समझकर बदलना सर्वथा उपयुक्त एवं समीचीन है। उनके चिंतन में अध्यापक वह है जो अध्ययन की प्रेरणा दे। अध्यापक का महत्व केवल इसलिए नहीं है कि वह स्वयं ज्ञान सम्पन्न एवं कार्य सम्पन्न हो जाए बल्कि उसे अपने द्वारा अधिगत विद्या के आधार पर दूसरे को, उसके पूर्व अनुभव को ध्यान में रखते हुए, ज्ञान निर्माण में सक्षम एवं सबल बनाना चाहिए।

शिक्षा जगत में आज भी शिक्षाविदों एवं शिक्षाशास्त्रियों के लिए चुनौतीपूर्ण प्रश्न यह है कि शिक्षा, ज्ञान और विद्या में क्या संबंध है तथा शिक्षा की सम्पन्नता और निरंतरता किस प्रकार सुनिश्चित की जा सकती है? शिक्षा संबंधी वैचारिक यात्रा में पंडितजी शुद्ध संवाद करते प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार भारत में शिक्षा-संवाद के जगत में 'विद्या' और 'ज्ञान' दो महत्वपूर्ण शब्द

हैं जिसकी अर्थपूर्णता एवं अर्थग्राह्यता को समग्ररूप में आत्मसात करने की आवश्यकता है। ज्ञान केवल सूचना नहीं है, बल्कि अनुभव तत्व से बहुत गहराई से जुड़ाव तथा गहराई में जाना है। जानना है तभी अस्तित्व है अर्थात् ज्ञान ही अस्तित्व का प्रमाण है। जानने वाला ही अस्तित्ववान है ऐसा आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त का मानना है। भारतीय परम्परा में हमारी यह धारणा है कि मैं हूँ ऐसा मैं जानता हूँ— “अहमास्मि अहम् जानानि”। मनुष्य को अपने अस्तित्व का ‘बोध’ होना ही ज्ञान है। पंडितजी ने ‘मैं’ शब्द को रेखांकित करते हुए कहा है कि इसका अर्थ है कि ‘एक विशेष अस्तित्व वाला’। ज्ञान के लिए इंद्रियों की मन से संबद्धता आवश्यक है।

किसी विषय का ज्ञान होने का अर्थ है कि उस विषय को गहराई से जानना एवं उस विषय से एकाकार हो जाना। कोई व्यक्ति जब गणित से एकाकार हो जाता है तो वह गणित विषय का ज्ञानी या गणितज्ञ हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि गणित विषय का इतना गहन अध्ययन करना कि उसकी प्रक्रिया को गहराई में समझना और उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना है अर्थात् ‘जानना’ और ‘होना’ एक हो जाना है। पंडितजी ने कहा है कि जब मनुष्य ‘होने’ की स्थिति तक पहुँच जाता है तब ज्ञान मनुष्य का संस्कार हो जाता है। मनुष्य उस ज्ञान के साथ साक्षात्कार कर चुका होता है और वही ज्ञान, सम्यक ज्ञान होता है।

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में ‘विद्या’ के कई अर्थ हैं जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण हैं— जानना, पाना, चलना एवं होना आदि। अतः यह कहा जा सकता है कि विद्या जानना है, पहुँचना है, चलना है और विशिष्ट रूप से विद्या ‘होना’ है। विद्या को अगर जानने के रूप में हम ऐसा कह सकते हैं कि ज्ञानी जितना ही ज्ञान में उतरता चला जाता है, वह उतना ही अधिक अनुभव करता है कि अभी बहुत कुछ जानना शेष है। यह विद्या की गहराई का ही परिणाम है। यह बात ग्रीक दार्शनिक सुकरात के दर्शन में भी दृष्टिगोचर होती है। विद्या सीमाओं को पहचानना सिखाती है कि आपकी यह सीमा है, आप यहां तक जान पाएं, इसके परे भी कुछ है, इसके आगे भी कुछ है। इसी प्रकार का विचार आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट ने भी अपनी कृतियों अभिव्यक्त किया है। इसीलिए भारतीय दार्शनिक निकायों में और खासकर वैशेषिक दर्शन में ‘परा’ और ‘अपरा’ दोनों ही प्रकार की विद्याओं की बात की गई है। मुण्डकोपनिषद् में शौनक ने महर्षि अंगिरस से जाकर पूछा कि “वह क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है?” अंगिरस ने कहा है कि परा-अपरा विद्या को जानने के बाद किसी अन्य को जानने की आवश्यकता नहीं रहती है।

पंडित विद्यानिवासजी ने सर गंगानाथ झा को उद्धरित करते हुए कहा है कि यह भी जानना कि ‘मैं यह नहीं जानता हूँ’ जानने का एक महत्वपूर्ण अवयव है। ज्ञान की एक सीमा को निरंतर पहचानने वाला व्यक्ति ही प्राप्त विद्या को सार्थक कर पाता है अन्यथा वह निष्फल सिद्ध हो जाती है। पंडितजी पतंजलि को उद्धरित करते हुए कहते हैं कि विद्या चार प्रकार से उपयुक्त एवं परिपक्व होती है— अध्ययन कालेन, मनन कालेन, प्रवचन कालेन एवं प्रयोग कालेन। विद्या की चार ही अवस्थाएँ और चार ही गतियाँ हैं और वह इन चार अवस्थाओं और चार गतियों के साथ सम्पन्न होती है। इन चारों में अध्ययन सर्वश्रेष्ठ है। अध्ययन का अर्थ है निश्चित लक्ष्य से चलना।

शिक्षा एवं शिक्षक :

शिक्षा का लक्ष्य है आदमी बनाना, मनुष्य बनाना, सम्पन्न मनुष्य बनाना, समर्थ मनुष्य बनाना। शिक्षा का अर्थ समर्थ होना है अर्थात् हम जीवन में सबके साथ चल सकें। उसका अर्थ यह नहीं है कि जीवन में सबके उपर शासन कर सकें बल्कि जीवन में सबके साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए तथा सभी को एकता के सूत्र में बाँधकर निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु हम कुछ सीखते हैं एवं तदनुरूप शिक्षा प्राप्त करते हैं। शिक्षा हमें तमाम आघातों से बचाने के लिए कवच प्रदान करती है, सभी परिस्थितियों में अपने को अनुकूल बनाने के लिए क्षमता देती है और ऐसी परिस्थितियों में जिनमें हम भटक जाएं तो ठीक राह पर आने की सूझबूझ देती है। शिक्षा में निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु उपयुक्त दिशा का ज्ञान होना आवश्यक है और साथ ही उपयुक्त दिशा के अनुसार अपने आपको सामंजस्य बनाने की प्रक्रिया का ज्ञान हो तो शिक्षा पूरी होती है। अच्छी शिक्षा का लक्षण यही है कि भूख बनी रहे, जिज्ञासा बनी रहे, जानने की इच्छा बनी रहे, उत्सुकता बराबर बनी रहे। इसके लिए एक वातावरण तैयार करना ही हमारी शिक्षण संस्थाओं का काम है। अध्यापक का सही धर्म है कि वह केवल सिखाता ही नहीं है बल्कि निरन्तर सिखाते रहने की प्रेरणा देता है।

शिक्षक के कई चारित्रिक विशेषताओं में से एक है अभिप्रेरित होना। स्वप्रेरित शिक्षक वह होता है जो मूल्यबोध से प्रेरित हो एवं लक्ष्य प्राप्ति की भावना से कार्य करता हो। ऐसा स्वअभिप्रेरित और परिणामोन्मुखी उर्जा से युक्त शिक्षक अपने वातावरण को सकारात्मक तरीके से प्रभावित करता है। अपने व्यवहारों एवं ज्ञान के द्वारा विद्यार्थियों को खुद की क्षमता की अनुभूति कराने वाला होता है। अभिप्रेरित शिक्षक विद्यार्थियों के लक्ष्य को समाज और देश के लक्ष्य से जोड़ता है।

पंडित जी आगे लिखते हैं कि गुरु रास्ता बनाता है, मार्ग बनाता है। शिष्य से यह नहीं कहता कि उसी मार्ग पर तुम चलें। वह कहता है कि ऐसा मार्ग तुम भी बनाओं। तुम अपनी देशीय-कालिक परिवेश, परिस्थिति व शक्ति-साधना के अनुकूल मार्ग बनाओं और उस पर तुम स्वयं चलो। भारतीय परम्परा में शिक्षक यह कामना करता है कि वह जितना जानता है उससे अधिक उसका शिष्य जाने। उसके शिष्य के अधिगम का रास्ता और व्यापक हो एवं उसकी विद्या में अभिवृद्धि हो।

आचार्य अथवा अध्यापक वह है जो केवल स्वयं आचरण नहीं करता बल्कि जो आचरण कराता है। इसीलिए उसकी कोटि सबसे उपर होती है। आचार्य अथवा गुरु का एक महत्वपूर्ण कार्य है प्रश्नों तथा समस्याओं का सैद्धांतिक एवं नया उत्तर बताना। विचार, भाषा और निष्कर्ष की परिशुद्धता सुनिश्चित करना, ज्ञान में अभिरुचि रखना, निरन्तर कुछ सीखना और जो सिखाया जाता है उससे संतुष्ट न होकर निरन्तर स्वयं सीखते रहना है और सीखने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना।

अध्यापक का एक गुण यह भी है, कि वह अपने ज्ञान से असंतुष्ट होता है ज्ञान के अलावा और किसी से अपेक्षा नहीं रखता है और जब वह अपने को ऐसी तपः स्थिति में ढाल लेता है कि उसे केवल विद्या या ज्ञान अपेक्षित हो तब स्वतः ही उसमें तेजस्विता एवं प्रकाशधर्मिता उत्पन्न हो

जाती है । ऐसा अध्यापक अथवा गुरु न तो किसी अन्य की उपेक्षा करता है और न ही किसी अन्य से अपेक्षा रखता है ।

अध्यापक को बनाना प्रकाश में अन्तर्निहित संभावनाओं को विकसित करना है और यह ऐसी अध्यापक-परम्परा से संभव हो सकता है जो इसके लिए तैयार होकर आये और ऐसा ही व्यवहार करें। वही अध्यापक सही शिक्षा दे सकते हैं जो जीवन के प्रति समग्रता और जगत के प्रति वसुधैव कुटुम्बकम् की धारणा रखते हैं तथा उनकी मान्यता होती है की शिक्षा के आयोजन में ऐसे नियम नहीं चाहिए, जो मनुष्य के स्वतंत्र संचालन और उसके स्वतंत्र विकास में बाधक हों।

शिक्षण व्यवस्था :

शिक्षा की पहली संस्था अथवा सीढ़ी घर होता है किंतु वर्तमान भारतीय शैक्षिक परिवेश में यह महत्वपूर्ण व्यवस्था न होने के कारण विभिन्न प्रकार की विकृतियां उत्पन्न हुई है। पहले घर के वातावरण से अनौपचारिक रूप में जो सहज शिक्षा प्राप्त हो जाया करती थी, आज बच्चा उससे वंचित हो गया है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंश वाचिक शिक्षा हुआ करती थी जो घर में ही प्रदान की जाती थी। इसका एक अंश यह भी था कि वह खेल के मैदान से लेकर खेतों तक में प्रदान की जाती थी जो आज धीरे-धीरे लुप्त सी हो रही है। इससे जुड़ी एक औपचारिक शिक्षा थी जिसकी चर्चा 'खूबसूरत पेड़' नामक पुस्तक में उपलब्ध है।

पंडित विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं कि 'खूबसूरत पेड़' ऐसा शब्द है जिसका संदर्भ महात्मा गांधी ने सन् 1931 में लंदन के एक छोटे से हाल में दिए गए अपने व्यख्यान में उद्धृत किया था। उन्होंने रूपक दिया कि जब अंग्रेज आए तो हमारी शिक्षा का एक खूबसूरत पेड़ था। लगभग प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला हुआ करती थी। तत्कालीन अंग्रेजी रिपोर्ट के अनुसार केवल बिहार एवं बंगाल में लगभग एक लाख विद्यालय थे। प्रतिवेदन के अनुसार यूरोप की साक्षरता भारत की साक्षरता से बहुत कम थी। जितनी निरक्षरता यूरोप में थी उतनी निरक्षरता भारत में नहीं थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत की निरक्षरता वाचिक शिक्षा के कारण शिक्षाविहिन नहीं थी, बल्कि निरक्षरता में भी शिक्षा थी। आम भारतीयों को अक्षर ज्ञान भले ही नहीं था किंतु उन्हें तमाम विषयों के ज्ञान पर अधिकार प्राप्त था। कबीर जैसे अधिकारी विद्वान एवं संत ने लिखा— 'मसि कागज छुयो नहीं, कलम गहयो नहीं हाथ'।

पंडित जी आगे लिखते हैं कि तत्कालीन प्रतिवेदन के अनुसार भारतीयों को उपनिषदों का रहस्य पता था। अक्षर के साध्य एवं शिक्षा अलग थे, उनका विधान भी अलग था। यदि उस समय प्रत्येक गाँव के पीछे एक विद्यालय था तो वह स्थिति आज की स्थिति से कहीं अधिक अच्छी थी। उसी रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि शिक्षा के विभिन्न विधाओं के अंतर्गत जिस प्रकार के अन्तर्वस्तुओं की, जिस उत्कृष्टता एवं विशिष्टता के साथ सिखाई-पढ़ाई जाती थी वैसी स्थिति यूरोप में भी नहीं थी।

पंडितजी के अनुसार – गाँधी जी ने अपने वक्तव्य में कहा कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था नामक खूबसूरत पेड़ को अंग्रेजों ने देखा कि ये कैसे पुष्पित व पल्लवित है, इनकी जड़ें कहाँ तक गई हैं? उन्होंने उक्त जड़ों के नीचे की मिट्टी धीरे-धीरे खिसकाई, खोदी और जड़ों की बहुत तारीफ करते हुए उन्हें बिना किसी सुरक्षा के खुला छोड़ दिया, परिणामस्वरूप वे जड़े सूख गईं

और यह खूबसूरत पेड़ ढह गया। गाँधीजी कहते हैं कि अंग्रेजों के सभी अपराध माफ किए जा सकते हैं पर ब्रिटिश सरकार का यह अपराध कभी भी माफ नहीं किया जा सकता क्योंकि उन्होंने हमारी शिक्षा एवं पद्धति को समूल जड़ से नष्ट करने का प्रयास किया।

पंडितजी का विश्लेषण है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति की तुलना में परम्परागत भारतीय शिक्षा पद्धति पूर्णतया स्वायत्तता से युक्त थी, उसमें किसी शासन का नियंत्रण नहीं था। वह पूर्णतः अध्यापक केन्द्रित, अध्यापक नियंत्रित तथा अपने गुरुओं के द्वारा अनुशासित थी। इसीलिए समाज में उसका स्थान बहुत ऊँचा था। पाठशालाएं बड़ी सभ्य थी तथा समाज इनके प्रति उत्तरदायी था। समाज के लिए तथा सामाजिक जीवन के लिए पाठशालाएं एक केन्द्र का काम करती थी। किसी भी प्रकार की जिज्ञासा, प्रश्न तथा समस्या का समाधान पाठशाला के अध्यापक के द्वारा होता था।

वे बताते हैं कि अंग्रेजों ने यह भ्रम उत्पन्न किया कि शिक्षा केवल ब्राह्मणों को दी जाती थी किंतु इस भ्रम का निवारण अंग्रेजों के ही तत्कालीन रिपोर्ट में हो जाता है क्योंकि उनके प्रतिवेदन के अनुसार केवल 40 प्रतिशत ब्राह्मण थे तथा 60 प्रतिशत सभी जातियां थी। यह भी भ्रम था कि लड़कियां शिक्षा प्राप्त नहीं करती थी किंतु इसके उलट लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था अलग थी और उन्हें महिलाएं ही पढ़ाती थी। तत्कालीन समाज में महिलाएं भी प्रभूत मात्रा में प्रवृद्ध थी, अध्यापन कार्य में निष्णात थी। रिपोर्ट में उल्लिखित है कि आवश्यकतानुसार लड़के-लड़कियाँ साथ भी पढ़ते थे और लड़कियों के लिए अलग पाठशालाएं भी विद्यमान थी। ऐसी शिक्षण व्यवस्था में संस्था की भौतिक आवश्यकताएं कम थी और आध्यात्मिक आवश्यकता अधिक। अध्यापकों का काम था कि वे जिन-जिन विषयों को पढ़ाते थे उन विषयों को मांजने के लिए पुनश्चर्या पाठ्यक्रम करते थे। इस प्रकार अन्तः प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती थी और छोटे केन्द्र तथा बड़े केन्द्र के बीच एक सहज संबंध बना हुआ था। तत्कालीन बड़ी पाठशालाएं अथवा केन्द्र को विश्वविद्यालय कह सकते हैं और यही आधुनिक विश्वविद्यालय के प्रतिमान बने हैं। उनमें यह सुनिश्चित किया जाता था कि स्वच्छ, सुंदर एवं मनुष्य के मूलभूत आवश्यकता के अनुरूप वातावरण और परिवेश का प्रबन्ध हो और यह सारी व्यवस्था गाँव के लोग करते थे।

आज गाँव स्कूल से कटा हुआ है। स्कूल है गाँव में, पर गाँव कटा हुआ है। प्राइमरी स्कूल का मास्टर आता है लेकिन वह भी केवल इस रूप में गाँव से जुड़ा हुआ है कि ग्राम सभा का अध्यक्ष जब तब उससे वेगारी ले लेता है, अन्यथा वह भी गाँव से कटा हुआ है। उस समय गाँव व समाज का प्रत्येक व्यक्ति पाठशालाओं तथा शिक्षा केन्द्रों को सुरम्य एवं सुरुचिपूर्ण बनाने में मदद करते थे। समस्त शिक्षण व्यवस्था तथा शिक्षकों एवं विद्यार्थियों की आवश्यकता को पूरा करना समाज का दायित्व था किंतु जब से अध्यापकों को पगार मिलने लगी उपयुक्त व्यवस्था बंद हो गई।

पंडितजी की विवेचना है कि नवीं-दसवीं शताब्दी से भारत का संपर्क पश्चिमी जगत के देशों से हुआ। पहले मध्य पश्चिम से हुआ, अरब देशों से हुआ और अलवरुनी आया। वह कई शिक्षा केंद्रों में गया उन केंद्रों का उसने विशद परिचय दिया है। उससे पता चलता है कि उस समय शिक्षा व्यवस्था क्या थी। अलवरुनी जब यहां से गया तो यहाँ की सारी व्यवस्था ले गया। अरबी का विश्वविद्यालय दक्षिणी अफ्रीका के उत्तरी हिस्से में मोरक्को में बना। मोरक्को से प्रेरणा

लेकर यूरोप का पहला विश्वविद्यालय स्पेन के वार्सिलोना में बना और वहां पर उन्होंने भारतीय शिक्षा व्यवस्था की सारी पद्धति अपनाई। ऐसी थी भारतीय शिक्षा व्यवस्था।

तत्कालीन भारतीय शिक्षा के आदर्श कितने उदात्त एवं स्तरीय थे इसका अंदाजा इस श्लोक से लगाया जा सकता है— “सर्वत्र विजयम् इच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् इच्छते पराजयान्” अर्थात् गुरु कहता है कि— सब जगह तो विजय की कामना करें लेकिन पुत्र एवं शिष्य से पराजय की कामना करें। शिष्य मुझको हराएगा तो हमारी विद्या आगे जाएगी। इसी कारण हमारी अवधारणा में विद्या अग्रेतर प्रसार की, खुलेपन की द्योतक है, न कि एक अपने तक बाँधे रखने की। विद्या आगे फैले, आगे उसका विस्तार हो इसका प्रतिमान उस समय उपस्थित किया जाता था। आदमी रचा जाता था और आदमी फिर दूसरे आदमी को रचता था। इसीलिए गाँधी जी ने कहा कि एक खूबसूरत पेड़ जिन्होंने ढहाया, उन्हें मैं माफ़ नहीं करूँगा।

हम आज की पाठशालाओं की दयनीयता से तत्कालीन पाठशालाओं का अनुमान लगाना चाहते हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि आज की पाठशाला व्यवस्था के पैरो तले रौंदी हुई पाठशाला है। इसमें न तो स्वायत्तता है, न उतनी आदर्श पढ़ाई है और न उतनी साधना परायणता ही। इन सबके बावजूद, अंग्रेजों के इतने दबाव के बावजूद भी, कहीं संस्कारगत कुछ ऐसी बात थी जिसके कारण शिक्षा का स्तर इस देश में कभी नहीं बंधा रहा बल्कि प्रारम्भिक स्तर से लेकर उच्चतम कक्षा तक उन्मुक्त बना रहा। शिक्षा के स्तर से निकलने वाले तेजस्वी लोगों की श्रृंखला बनी रही। बावजूद इसके कि वर्तमान पद्धति में दोष है, इस पद्धति में भी जो लोग बने उसका कारण हमारा आध्यात्मिक संस्कार एवं संस्कृति है जो पहले से आयी हुई है।

शोध बताते हैं कि वर्तमान में जितनी भी वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति वैश्विक पैमाने पर हुई है और निरंतर हो रही है यथा— भौतिक उपकरणों या यंत्रों का विनिर्माण, कम्प्यूटर, वायुयान, मिसाइल, रॉकेट, कृत्रिम उपग्रह तथा परमाणु उर्जा इत्यादि, इन सबकी जड़े प्राचीन भारतीय विद्या एवं वैदिक वाग्मय में विद्यमान हैं। अब तो ‘नासा’ के शोध यहाँ तक बताते हैं कि अंतरिक्ष में केवल संस्कृत की चलती है, नासा के मिशन संस्कृत की पुष्टि उसकी वेबसाइट भी करती है। अमरिकी अंतरिक्ष एजेंसी ‘नासा’ के वैज्ञानिकों के प्रशिक्षण काल में उनको संस्कृत का भी प्रशिक्षण दिया जाता है इसमें आर्यभट्ट, वराहमिहिर जैसे भारत के विद्वानों की ओर से दिये गये वैज्ञानिक सिद्धांत के अलावा मयदानव का सूर्य सिद्धांत, जो उसने 500 बी.सी. में प्रतिपादित किया था, पढ़ाया जाता है। उक्त प्रशिक्षण में सूर्य सिद्धांत में ढाई हजार वर्ष पहले सौरमण्डल के संबंध में दिये गये तथ्य और आज के वैज्ञानिक तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। अतः हमें उनका अनुसरण करना होगा। क्योंकि संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा में निरंतर नए-नए उपादन, नए-नए विचारों के समावेश और नए-नए निर्वचन की संभावना, ये सभी बातें सूत्रों के रूप में मिलती हैं और ये किसी भी उन्नत शिक्षापद्धति के लिए आवश्यक हैं। यद्यपि यह सही है कि पश्चिम की पद्धति में भी निष्णात पंडित, विद्वान तथा अध्यापक सिद्ध हुए हैं परंतु गहराई से विचार करने पर यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि उनकी भी जड़ें कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में भारतीय विद्या एवं संस्कृति में दृष्टिगोचर होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के तीनों प्रमुख घटक शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षण व्यवस्था चाहें वे किसी भी देश, काल, परिस्थिति एवं परिवेश में क्यों न हो, इन तीनों घटकों की

गुणवत्ता के अनुरूप ही व्यक्ति, परिवार, समाज एवं मानवता का विनिर्माण सुनिश्चित होता है। जहाँ तक भारतीय शिक्षा व्यवस्था का प्रश्न है इसमें पूर्व वैदिक काल से लेकर अद्यतन बहुत सारे सकारात्मक एवं नकारात्मक परिवर्तन होते रहे हैं। भारतीय शिक्षा पद्धति का मूल उद्देश्य ही है स्वावलम्बन, विमुक्ति तथा अनुशासन के साथ अच्छा एवं जिम्मेदार नागरिक बनाना साथ ही व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक रूप से सर्वशक्तिसम्पन्न बनाना और इस हेतु सम्पूर्ण पाठशाला को ही प्रयोगशाला बनाना होगा जिससे निकलने वाले विद्यार्थी विभिन्न कलाओं, शास्त्रों एवं जीवन व्यवहार की अनेक दिशाओं में निष्णात होकर बाहर निकले जैसा कि परम्परागत भारतीय शिक्षा प्रणाली में विद्यमान था। 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजों द्वारा तैयार किए गए प्रतिवेदन यह बताते हैं कि हिन्दुस्तान की शैक्षिक व्यवस्था का स्तर यूरोप से कई गुना उन्नत एवं स्वायत्त था। संदर्भित प्रतिवेदन यह भी बतलाते हैं कि जो विषय उस समय भारत में पढ़ाए जाते थे, वे आक्सफोर्ड एवं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में भी नहीं पढ़ाए जाते थे।

अतः उक्त ऐतिहासिक साक्ष्य के आलोक में हमें ऐसी शिक्षा प्रणाली को गंभीरता पूर्वक खोजना होगा, जो वर्तमान वैज्ञानिक एवं तकनीकी युग के साथ समन्वय स्थापित करते हुए उसी गति से प्रगति कर सके, क्योंकि समुचित शिक्षा व्यवस्था के अभाव में आज हमारे देश में शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रकार की अराजकता फैली हुई है। हमारे विद्यालयों में जिस प्रकार से मानविकी शिक्षा की उपेक्षा कर तकनीकी शिक्षा को अनाप-शनाप दामों में बेचा जा रहा है वह चिंता का विषय है। ऐसी परिस्थिति में पंडित विद्यानिवास मिश्र का शिक्षा मंत्र बहुत उपयोगी है। हमें नई पीढ़ी को आयातित शिक्षा के बजाय ऐसी शिक्षा देनी होगी जिसकी जड़ें भारतीय जमीन से जुड़ी हो और जो उन्हें एक चेतनाशील, ज्ञानवान और पूर्ण मुनष्य बनाए, जैसा कि भारतीय संस्कृति का वास्तविक स्वरूप था एवं भारत को पुनः गुरुता व मानवीयता के धरातल पर लोक कल्याणार्थ विश्व का सिरमौर बनाया जा सके।

संदर्भ :

1. विद्यानिवास मिश्र, अध्यापन : भारतीय दृष्टि, राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली
2. मुण्डक उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर
3. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर
4. डॉ. एस. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली
5. फोर्ब्स पत्रिका, 1987
6. अमेरिकन संस्कृत इंस्टीच्युट; <http://www.americansanskrit.com>
7. स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती, वेद व विज्ञान, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी